

व्याख्यान श्रृंखला

भारतीय समाज के समक्ष चुनौतियाँ

व्याख्यान  
पुस्तक माला

7

# नारी और अस्मिता

प्रो. रूपरेखा वर्मा



गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज



व्याख्यान श्रृंखला  
भारतीय समाज के समक्ष चुनौतियाँ

# नारी और अस्मिता

प्रो. रूपरेखा वर्मा



गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान  
झुंसी, प्रयागराज-211019



दिनांक 9.3.2019  
सेमिनार हॉल

गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान की आभारी हूँ कि मुझे आप सबसे बात करने का अवसर दिया। विषय पर बात करने से पहले कुछ स्पष्टीकरण।

1. उन सभी मानव-समूहों या वर्गों के लिये जिन्हें समाज ने पारम्परिक रूप से निचले पायदानों पर रखा, आइडेंटिटी का सवाल ही मूल सवाल है। बाकी सवाल अन्ततः इसी मुद्दे से जुड़ते हैं। आज हमें प्रमुखतः स्त्रियों से जुड़े उन सवालों को समझना है और उनकी चर्चा करनी है जो उनकी आइडेंटिटी को समस्यात्मक बनाते हैं। अंग्रेज़ी शब्द 'आइडेंटिटी' के लिये हिन्दी में मैं 'अस्मिता' या 'पहचान' शब्द का प्रयोग करूँगी हालाँकि ज़्यादातर पाठक-श्रोता अंग्रेज़ी शब्द समझते हैं यह मानते हुये इस शब्द का भी प्रयोग करूँगी।
2. दूसरी बात यह है कि हालाँकि आज हमारी बातचीत के केन्द्र में स्त्रियाँ रहेंगी, यह ध्यान में रखना सजगता के लिये ज़रूरी है कि अस्मिता के प्रश्न स्त्रियों व पुरुषों के लिये जितने जटिल और व्यापक हैं, उससे कहीं ज़्यादा ये प्रश्न उभयलिंगियों और उनके लिये जटिल हैं जिन्हें हम 'एल.जी.बी.टी.' कहते हैं। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक रूप से, उभयलिंगियों व एल.जी.बी.टी. व्यक्तियों के प्रति हिंसा, अपमान तथा अन्याय की गाथा अपेक्षाकृत कम समझी और लिखी गयी है जबकि उनकी पीड़ा किसी भी तरह कमतर नहीं रही। इन लोगों की आवाज़ मुखर हुये अभी बहुत कम

समय बीता है और उनकी लड़ाई स्त्रियों की लड़ाई से ज़्यादा लम्बी रही है। ये बात ध्यान में रखना हमारे सामान्य जेंडर-विमर्श के लिये फ़ायदेमन्द होगा।

3. किसी भी समाज का हर व्यक्ति बहु-अस्मिता परक होता है। वह एक ही वक्त में अनेक आइडेंटिटी रखता है, जैसे कि किसी देश का नागरिक होना, किसी का बेटा या बेटी होना, किसी धर्म या जाति का होना या इन सबसे मुक्त होना, किसी व्यवसाय में होना, इत्यादि। इन सभी पहचानों में एक साथ जीना आमतौर पर कोई अन्तर्विरोध या टकराव पैदा नहीं करता क्योंकि इनके प्रासंगिक दायरे आमतौर पर अलग-अलग होते हैं।
4. लेकिन विशेष परिस्थितियों में इनमें टकराव हो सकता है और व्यक्ति को यह तय करना पड़ सकता है कि वह इनमें से किस आइडेंटिटी को ज़्यादा और किसे कम महत्व या वरीयता दे। हमारा मानसिक-व्यावहारिक परिवेश हमारी विभिन्न अस्मिताओं के बीच ज़्यादा या कम महत्वपूर्ण होने का अनुक्रम बना देता है जिसके अनुसार हम अपनी अस्मिताओं या पहचानों को परिस्थिति-अनुसार ऊपर-नीचे करते रहते हैं। जैसे कि, कुछ लोगों के लिये कुछ परिस्थितियों में भारतीय होना या शिक्षक होना या किसी की माता होना उतना महत्वपूर्ण न हो जितना मराठी-भाषी होना या हिन्दी-भाषी होना हो। या इसका उलट। ऐसा भी नहीं है कि विभिन्न आइडेंटिटीज़ की वरीयता का यह अनुक्रम (हायरार्की) किसी व्यक्ति के लिये स्थायी या अपरिवर्तनीय हो। समय-समय पर इस अनुक्रम में फेर-बदल भी होता रहता है।
5. हमारी अस्मिताएं हमारी मानसिक बुनावट में इस तरह घुली-मिली होती हैं कि वह आमतौर पर अवचेतन स्तर पर ही सक्रिय रहती हैं जिसके कारण वह पूर्वधारणा (प्रिज़म्प्शन) या दुराग्रह (प्रेज्यूडिस) की तरह काम करती हैं और हमारे विवेक या हमारी आलोचनात्मक नज़र की पकड़ से छूटी रहती हैं। इस वजह से यह कभी भावनात्मक औज़ार के रूप में ज़बरदस्त ज़बरदस्त मारक रूप धारण कर लेती हैं और कभी हमें 'स्व' या 'मैं' से

बढ़कर एक बड़ी पहचान दे कर उदात्तता और सुकून भी देती है।

व्यक्तियों की आइडेंटिटी या अस्मिताओं को मारक या उदात्त बनाने की प्रक्रिया सोशल एंजीनियरिंग और शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। ये सोशल एंजीनियरिंग घर की परवरिश और स्कूल से ले कर साहित्य, राजनीति और मीडिया लगातार करते रहते हैं।

6. अब यह साफ़ होगा कि आइडेंटिटी या अस्मिता का मासूम सा दिखने वाला सवाल उतना मासूम नहीं है। इसमें एक ओर अपार उदात्तता तो दूसरी ओर भयंकर विस्फोट की सम्भावना छिपी होती है। कभी देशप्रेम के नाम पर तो कभी क्रिकेट क्लब के नाम पर या कभी फुटबॉल-फ़ैन समुदाय के नाम पर होने वाली हिंसा के पीछे हमारी अस्मिताओं को धारदार और विस्फोटक बनाने वाली सोशल एंजीनियरिंग काम करती है। भक्ति युग के सन्त-साहित्य और सूफ़ी कलाम ने हमारी अस्मिताओं को सर्वग्राही और उदार बनाया। जेडर के आधार पर पुरुष और स्त्री के बीच किस तरह द्वन्दात्मक पहचानें बनती हैं और उनकी धार किस तरह ज़्यादातर स्त्री पर गिरती है, यह हम आगे देखेंगे।

स्त्रियों के सन्दर्भ में अस्मिता के सवाल का बड़ा पहलू यह समझना है कि 'स्त्रीत्व' या 'औरतपन' और उसके बरक्स 'पुरुषत्व' या 'मर्दानगी' समाज ने कैसे परिभाषित की है। दूसरे शब्दों में, उनकी जेण्डर आइडेंटिटी क्या है? औरत को हम 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' या 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' जैसे मानकों से पहचानेंगे और उसे साहसिक काम करने पर 'मर्दानी' कहेंगे या उसकी आइडेंटिटी में वे तमाम पहचानें भी जोड़ेंगे जो गणितशास्त्री लीलावती, सावित्रीबाई फुले, पण्डिता रमाबाई, रूक़ैया सखावत, रज़िया या रशीद जहाँ में प्रस्फुटित हुई थीं? पुरुष को हम उसके 'प्रताप', 'जलाल', 'बाहुबल' और 'आन-बान' या 'ठसक' से ही पहचानेंगे या उनमें सुमित्रानन्दन पन्त की भावुकता, चिकन कारीगर फ़ैय्याज़ खाँ की उँगलियों की हुनरमन्दी, अल्लारक्खा और भीमसेन जोशी की लयकारी और रोमियो का समर्पणकारी प्रेम भी शामिल करेंगे?

ये सवाल हमारी पारम्परिक सधी सोच में हलचल मचा सकते हैं। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि ठीक है कि झाँसी की रानी ने साहस से युद्ध लड़ा या अवध में बेगम हज़रतमहल ने मज़बूती से अंग्रेज़ी राज का विरोध किया लेकिन एक 'माँ-स्वरूप' स्त्री स्वभावतः तो ममतामयी ही होगी। साहस उसका आकस्मिक गुण हो सकता है, अनिवार्य गुण नहीं। इसीलिये साहसिक कार्य करने पर उसने मर्दानापन तो दिखाया ही! इसी तरह कोई कह सकता है कि पन्त की भावुकता और अल्लारक्खा की लयकारी पुरुष में 'स्वाभाविक' या 'अनिवार्य' गुण नहीं हैं, आकस्मिक हैं। पुरुष का काम तो भारी-भरकम काम करना है और वह उसी लिये बना है। तो, भावुकता जैसे गुण उसके अनिवार्य गुण नहीं हो सकते।

इस विचार के पीछे एक तरह का अनिवार्यतावाद (इसेन्शियलिज्म) काम कर रहा है जो हर चीज़ में एक इसेन्स या सारतत्व मानता है और इस सारतत्व को उस चीज़ का प्राकृतिक और अनिवार्य रूप मानता है। उदाहरण के लिए, आग का सारतत्व या अनिवार्य गुण ज्वलनशीलता है। इसके बिना आग आग ही नहीं हो सकती। इस विचार को मानते हुये ही पारम्परिक सोच स्त्री और पुरुष को दो भिन्न प्रकार के इंसान मानते हुये उनके स्वभाव, गुण व क्षमताओं को विपरीत तरीके से परिभाषित करती है। स्त्री की विशेषता त्याग और उत्सर्ग है तो पुरुष की संचय और अर्जन। स्त्री खोने से महान बनती है तो पुरुष पाने से। स्त्री भावना-प्रधान है तो पुरुष बुद्धि-प्रधान। इत्यादि। यह सोच स्त्री, पुरुष समूहों की कल्पना अपने परिवेश से स्वतंत्र पहले से ही बने-बनाये (pre-determined) उत्पादों के रूप में करती है। लेकिन असलियत में मनुष्य इस तरह की चीज़ नहीं होते। वह सामूहिक पहचानें रखते हुये भी अपनी वैयक्तिकता और अनूठापन भी रखते हैं जिसके कारण उनकी अपनी पहचान सामूहिक पहचान के दायरों को काटती भी है। इसके अलावा, व्यक्ति और उसके समूह अपने भौगोलिक, सांस्कृतिक और आर्थिक वातावरण से भी बहुत कुछ बनते हैं और निरन्तर परिवर्तनीय होते हैं। उनके 'इसेन्स' स्थिर नहीं होते।

यह मानें तो सभी स्त्रियों के किसी अनिवार्य रूप या स्वभाव तथा सभी पुरुषों के किसी दूसरी तरह के अनिवार्य स्वभाव की धारणा ही ख़त्म हो जाती है। 'औरतपन' और 'मर्दानगा' के जो प्रतिमान हमें सांस्कृतिक विरासत में मिले हैं उन्हें समझने के लिये हमें जेण्डर की निर्मिति समझनी होगी।



ज़ाहिर है कि स्त्री और पुरुष के बीच प्रकृति के दिये हुये कुछ कुदरती शारीरिक भेद होते हैं। उनकी शारीरिक या जैविक बनावट में फ़र्क़ होता है। इस फ़र्क़ को हम उनके सेक्स का भेद कहते हैं। सेक्स का भेद अपने आप में मूल्य-निरपेक्ष है। मतलब यह है कि व्यक्ति का सेक्स क्या है, मात्र इससे न तो व्यक्ति की मूल्यवत्ता तय होती है और न ही उसके गुण, स्वभाव, रुझानों और क्षमताओं के बारे में कोई बात। सेक्स का भेद, अपने आप में, भेदभाव पैदा नहीं करता। यह समाज में तब भेदभाव पैदा करता है जब हम सदियों से चली आ रही अवैज्ञानिक सोच के कारण एक सेक्स के साथ कुछ ख़ास क्षमतायें व सामाजिक हैसियत और दूसरे सेक्स के साथ कुछ दूसरी क्षमताएँ व सामाजिक हैसियत जोड़ देते हैं। जैसे, हम बिना विचार किये ही यह मानने लगते हैं कि स्त्री कुदरती रूप से सहनशील, भावुक, ममतामय, त्याग-तपस्या और सेवा-भाव से पूरित होगी और पुरुष में साहस, धैर्य, मज़बूती, बौद्धिकता जैसे गुण होंगे। सेक्स या जैविक पहचान पर जब हम इस तरह की गुणात्मक अस्मिता थोप देते हैं तो हम 'जेण्डर' का निर्माण कर रहे होते हैं। जेण्डर सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित वह व्यवस्था है जो समाज में पुरुषों और महिलाओं के गुण, क्षमताओं और भूमिकाओं को परिभाषित करती है। जेण्डर की यह निर्मिति जो स्त्री व पुरुष को दो भिन्न प्रकार के सामाजिक जीवों के रूप में देखती है और उनकी दो विपरीत अस्मितायें या आइडेंटिटी गढ़ती है, स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव का मूल कारण है।

जेण्डर की यह निर्मिति जिस तरह स्त्रियों और पुरुषों में गुणों और क्षमताओं या योग्यताओं का बँटवारा करती है उससे यह व्यवस्था उनके बीच शक्ति के बँटवारे की व्यवस्था भी बन जाती है। अगर ज़मीनी हकीकत में त्याग करना हमेशा औरत का ही काम हो और संचयन करना या स्रोतों का मालिक बनना पुरुष का, तो साफ़ है कि असल ज़िन्दगी में शक्ति ज़्यादातर पुरुष के हाथ में होगी और औरत के हाथ में 'अच्छी औरत' होने का एक 'प्लेटॉनिक' सन्तोष मात्र होगा। इसी व्यवस्था के आधार पर स्त्रियों को बहुत सारे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है और उस पर बहुत से बन्धन लाद कर उन्हें या तो निचले दर्जे का नागरिक बना दिया जाता है या फिर देवी के ऊँचे आसन पर बैठा दिया जाता है। हर हाल में उनकी मानवीयता का ही क्षरण होता है।

इस व्यवस्था में एक ओर स्त्रियों की मानवीयता का यह क्षरण उन्हें 'अबला', पराधीन

और शक्तिहीन बना कर होता है तो दूसरी ओर पुरुष की मानवीयता का भी क्षरण होता है उसकी शक्ति-लालसा को बढ़ा कर, मर्दानगी की आन-बान के नाम पर उसके अहंकार को बढ़ा कर और उसके भावनात्मक पक्ष को कुण्ठित कर के। रोने और लजाने जैसी ज़रूरी मानवीय अभिव्यक्तियों से बालकों को रोक कर उन्हें कुण्ठित किया जाता है और उनका अमानवीयकरण किया जाता है। इस तरह स्वभावगत बँटवारे की इस जेण्डर आइडेंटिटी की व्यवस्था पूरी तरह अमानवीयकरण की व्यवस्था है।

जब हम बचपन से बड़े होने तक यही सुनते और पढ़ते हैं कि स्त्रियाँ त्याग, दया, सहनशीलता और ममता की प्रतिमूर्ति होती हैं और कहीं भी यह नहीं सुनते या पढ़ते कि लड़के भी त्याग, ममता, दया की मूरत होते हैं। तो हम पुरुष के अहंकार, असहनशीलता और आत्म-केन्द्रीयता को ही सच्ची मर्दानगी मानने लगते हैं। इतना ही नहीं, अगर कोई पुरुष बहुत सम्बेदनशील हो, भावुक हो और दया-ममता से पूरित हो तो आमतौर पर हम उसे 'ज़नाना' कह कर उसे शर्मिन्दा करते हैं और उसका मज़ाक उड़ाते हैं। सामाजीकरण की यह सभी प्रक्रियाएँ पुरुष को कमतर इंसान बनाने में और स्त्री को आत्म-वंचक, पराधीन, कायर और आत्मविश्वास-रहित बनाने में लगातार योगदान देती रहती हैं।

सामाजीकरण की इन प्रक्रियाओं में शाबाशी व दण्ड, स्वीकृति-अस्वीकृति, उलाहना, ताने, आदर-निरादर जैसे मज़बूत औज़ारों का प्रयोग होता है जो सामाजिक मानकों के विपरीत जाने वालों को आसानी से विचलित कर के घिसी-पिटी लीक पर चलने को और बने-बनाये खाँचों में ढल जाने को मजबूर कर सकते हैं। कितने लोग होंगे जो अपने घर में ऐसी पत्नियाँ या बहुएँ लाना चाहेंगे जो अपने हक के लिये लड़ती हों, अपने सपने खुद गढ़ती हों और अपने हिसाब से जीने की ललक रखती हों? और कितनी स्त्रियाँ ऐसी होंगी जो ऐसे पुरुषों को प्रेम व आदर के साथ अपनाते को तैयार होंगी जो ताक़तवर और रौबदार कम और संवेदनशील व कोमल भावनाओं से युक्त ज़्यादा दिखते हों? सामाजिक काम करने वालों का यह आम अनुभव है कि ज़्यादातर स्त्रियाँ इस बात का बखान करते नहीं थकती कि उनके पति कितने गुस्सैल और तुनकमिज़ाजी या असहनशील हैं और वे उन पतियों को फिर भी कितने संयम और सहनशीलता से संतुष्ट कर रही हैं। इस अपराध-तुल्य समर्पण में ही स्त्री अपनी शान,

अपना गौरव ढूँढ़े, इसकी तैयारी घरों में बहुत छोटेपन से ही शुरू हो जाती है।

हमारे माँ-बाप, भाई-बहन, चाचा-चाची, बड़े-बूढ़े और उसके बाद वृहत्तर समाज जो हमें स्कूलों में, सड़कों में, दुकानों में, दोस्तों की संगत में और विभिन्न प्रकार की चर्चाओं में मिलता है, इसी सोच को हमारे दिलों-दिमाग में भरता है। इस तरह यह सोच समाज की हर दिशा, हर कोने से हमारे ऊपर काम करती है। हम कभी भी उसके ऊपर सवाल नहीं उठाते क्योंकि कभी हमें सवाल उठाने के मौक़े ही नहीं मिलते और न ही ऐसी सम्भावनाओं को हमारे सामने खोला जाता है। हमें कभी भी यह बताया ही नहीं जाता कि ज़िन्दगी के बारे में किसी दूसरे पहलू से भी सोचा जा सकता है। इस तरह बचपन से ही जिन चीज़ों को हम अपने दिमाग में बसा चुके होते हैं, वो हमें एकदम स्वाभाविक एवं सहज महसूस होने लगती हैं, बिलकुल उसी तरह जैसे कि हमारा साँस लेना या पलकें झपकाना। यही नहीं, समाज में अपराधों की विवेचना और उनकी गहनता का निर्धारण भी स्त्री और पुरुष आइडेंटिटी से जोड़ते हुये किया जाता है क्योंकि अपराध भी एक तरह से आइडेंटिटी का ही हिस्सा बन जाते हैं। उदाहरण के लिये, अगर कहीं अकेले सूनसान में कोई लड़की जा रही होती है तो उसके पास से गुज़रने वाले लड़कों को यह स्वाभाविक लगेगा कि वो उसके साथ कुछ भी कर सकते हैं। उन्हें यह एक अवसर की तरह लगेगा कि यदि वह इसका उपयोग नहीं करते तो एक तरह से उनका हक़ मारा जायेगा। यह सारी चीज़ें उनके अचेतन मन में चलती रहती हैं। इस तरह अपराध का सामान्यीकरण कर दिया जाता है। और अगर कोई ऐसी घटना होती है जो अपराध की श्रेणी में आती है तो पूरा समाज पहला प्रश्न लड़की के ऊपर ही उठाता है कि इतनी रात में वह अकेले सड़क पर कर क्या रही थी? इतनी रात को कोई लड़की सड़क पर अकेले इस तरह मिलेगी तो लड़का और करेगा भी क्या, इत्यादि। इस तरह सारा दोषारोपण लड़की के ऊपर ही किया जाता है।

इस का भयानक पक्ष यह है कि पुरुषों की अस्मिता में ही अपराध की प्रवृत्ति शामिल कर ली जाती है और बहुत सारे यौनिक व अन्य प्रकार के अपराधों को अपरिहार्य मानते हुये सामान्य व समाज-स्वीकृत बना दिया जाता है। हम यह कहावतें अक्सर सुनते हैं और आत्मसात करते रहते हैं कि 'लड़के तो लड़के होते हैं' (boys will be boys) इस अर्थ में कि वह तो झगड़ा-झंझट और दुराचार करेंगे ही; वे लाइलाज हैं।

या यह कि 'लड़का सौ जगह मुँह मार आये तो भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता लेकिन लड़की...'। हम कभी सवाल नहीं उठाते कि एक ही प्रकार के व्यवहार के लिये क्यों लड़कों का 'कुछ नहीं बिगड़ता' और लड़कियों का 'सब कुछ' बिगड़ जाता है। हमने पुरुषों को स्त्री पर हिंसा करने के लिये इस तरह मान्यता क्यों दी है? इस मान्यता के पीछे समाज की क्या लाचारी है? इतनी अनैतिक और अमानवीय आइडेंटिटी के खिलाफ पुरुषों की ओर से कभी कोई आन्दोलन क्यों नहीं हुआ? इस आइडेंटिटी के कारण जो शर्मिन्दगी उन्हें होनी चाहिये थी वह क्यों नहीं हुई? उनके लिये यौनिक नैतिकता के सारे मानक क्यों तोड़ दिये जाते हैं? इन सवालों पर सार्थक विमर्श न सिर्फ सम्भव है, ज़रूरी भी है। स्त्री की यौनिकता पर अनुशासन की चाहत, गर्भ-धारण की सम्भावना से बहुत सी बातों को परदे के पीछे न छुपा पाने का डर और इन सब के मूल में यौनिक शुचिता के दोहरे और बेहद उथले मानदण्ड उजागर होंगे अगर हम इस विमर्श को आगे बढ़ाएँ। लेकिन यह बातचीत कभी और। अभी हम उसी जेण्डर-निर्मिति पर वापस लौटते हैं जिसके कारण समाज असमानता की इस उथली नैतिकता को स्वीकार करने की आदत में फँसा हुआ है।

ग़ैर बराबरी और अन्याय की इस व्यवस्था को पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रखने में सिर्फ पुरुष ही भागीदार नहीं हैं जिन्हें इस व्यवस्था में अधिक स्वतन्त्रता, शक्ति, सुविधा, सुख व सम्मान मिलता है बल्कि स्त्रियाँ भी एक समान भागीदार हैं जो इस व्यवस्था को पूरी तरह आत्मसात कर के आइडेंटिटी की उसी राजनीति को आगे की पीढ़ी के लिये मज़बूत करती हैं जिसकी वो शिकार रही हैं। इस छद्म नैतिकता और आत्मघाती सामाजिकरण से मिलता-जुलता उदाहरण शायद सिर्फ दासप्रथा की व्यवस्था में ही मिलेगा, कहीं और नहीं। इन व्यवस्थाओं का मूलमंत्र ही है, शोषित होने की मजबूरी को 'महानता' का झूठा दर्जा देना और इसे 'कुदरत का इन्साफ़' मानना।

नारीवादी विमर्शों का बड़ा हिस्सा अपने ऊपर हुई हिंसा के लिये पुरुषों को दोष देने में बीता मानो पुरुष अपनी स्वतंत्र समझ से हिंसक बन रहे हों और समाज का वैचारिक ढाँचा उनसे यह हिंसा न करा रहा हो। यह सोच भी ग़लत लगती है। ध्यान में रखने वाली बात यह है कि जिस तरह आत्मविश्वास रहित स्त्री सामाजिक ढाँचे और सोच का परिणाम है ठीक उसी तरह पुरुष भी उसी ढाँचे और सोच का उत्पाद है। उसे भी अपना स्वत्व या पहचान हिंसा में ही ढूँढ़ने को मजबूर किया गया है। असली शैतान

यह सामाजिक ढाँचा या बुनत ही है। स्त्री और पुरुष को एक दूसरे से मुक्ति नहीं चाहिए। मुक्ति इस सोच और संरचना से चाहिए।

‘कुदरती औरतपन’ और ‘कुदरती मर्दानापन’ पुरातन अवैज्ञानिक सोच द्वारा गढ़ा गया मिथक मात्र है। इस सोच से निकले जेण्डर स्टीरियोटाइप्स को ज़बर्दस्त सांस्कृतिक अनुशासन के बावजूद हर युग में तोड़ा गया है। स्त्रियों में बौद्धिकता, साहस और मज़बूती का अभाव मानने के बावजूद लीलावती, गार्गी से लेकर मैडम क्यूरी, आनन्दी, फुले, रुक़ैया सखावत और रशीद जहाँ तक ने सिद्ध किया कि अगर अवसर मिल जाएँ तो उनमें भी विलक्षण बौद्धिकता और इरादों की मज़बूती व साहस हो सकता है। दूसरी ओर, अगर हम देखें कि साहित्य और कलाओं में, जो भावना-प्रधान मानी जाती हैं, किसने सबसे अधिक संवेदनशील कहानियाँ लिखीं, संगीत में किसने सबसे संवेदनशील बन्दिशें बनायीं, चित्रकला में सबसे चर्चित नाम कौन से हैं तो हमें ज़्यादा नाम पुरुषों के मिलते हैं और स्त्रियों के नाम अपेक्षाकृत कम। इस प्रकार स्त्रियों और पुरुषों दोनों के द्वारा ही समाज से निर्मित अस्मिताओं को तोड़ा गया है और यह सिद्ध किया गया है कि प्रकृति ने हमारी वो पहचानें नहीं बनायी हैं जिन्हें हम प्राकृतिक मान कर ज़बर्दस्ती अपने बच्चों पर थोपते हैं। यह कई सर्वे और अध्ययनों में भी सिद्ध हो चुका है।

जिन लोगों को यह लगता है कि उपरोक्त विमर्श किसी पुरानी सदी का विलाप है और आज दुनिया बदल गयी है उन्हें हमारे समाज में आज भी रोज़ाना घटित होने वाली घटनाओं को समझना चाहिए। यह सच है कि दुनिया बहुत बदली है। अच्छी दिशा में भी, बुरी दिशा में भी। लेकिन इनमें से बहुत से बदलाव सतही हैं या नये बाज़ार के नये दबावों के कारण पैदा हुये हैं, न कि उतनी ज़्यादा बदली सोच के कारण। उदाहरण के लिए, न्यायाधीश जो कि हमारे सम्बिधान एवं मौलिक अधिकारों के रक्षक और क़ानून के व्याख्याकार हैं तथा जिनका मुख्य कार्य संविधान और क़ानून के अनुसार बिना किसी भेदभाव के सभी को समान रूप से न्याय प्रदान करना है, उन पर हुये एक अध्ययन में यह तथ्य सामने आया कि कुल न्यायाधीशों में से 40% न्यायाधीशों का, जो अपने आप में एक बहुत बड़ा प्रतिशत है, मानना था कि यदि पति अपनी पत्नी के साथ थोड़ी बहुत मारपीट करता है तो यह जायज़ है, ग़लत नहीं। अब इस थोड़े बहुत का क्या पैमाना है यह तो घर-घर में और व्यक्ति-व्यक्ति में फ़र्क़ हो

सकता है तथा यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सोच पर निर्भर करता है। एक अन्य अध्ययन में जो लक्ज़ेम्बर्ग फाउंडेशन के सहयोग से संस्था साझी दुनिया ने किया और जो अदालतों में वकीलों और मुख्य रूप से न्यायाधीशों के ऊपर केन्द्रित था, उसमें यह निष्कर्ष निकला की 90% से ज़्यादा न्यायाधीशों का महिलाओं के प्रति रवैया सुनवाई के पहले दिन से ही असहानुभूतिपूर्ण होता है। इसी तरह हमारे यहाँ कई तरह के मध्यस्थता केन्द्र खोले गये हैं। क्रिमिनल मामलों में इन केन्द्रों का कोई मतलब नहीं होता है। फिर भी हमारे यहाँ दहेज से सम्बन्धित मामलों में, जो क्रिमिनल क़ानून के अन्तर्गत आता है, इन केन्द्रों में जाना अनिवार्य बना दिया गया है। अपराध से समझौते का यह चलन हमारे लिये शर्म की बात है। इसके अतिरिक्त मारपीट, मानसिक अत्याचार, शारीरिक ज़बर्दस्ती करना, स्त्री धन, जैसे मामलों में भी इन केन्द्रों में जाना अनिवार्य है। 'मैरिटल रेप' को अभी भी हमारे यहाँ अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जाता और विवाह में पुरुष को स्त्री के स्वामी की हैसियत से ही देखा जाता है। जबकि यह शब्द कहीं लिखा हुआ नहीं मिलेगा, वास्तविक स्थिति यही है जो हमारे समाज में और न्यायालयों की मानसिकता में व्याप्त है। घर बचा लेने की पूरी ज़िम्मेदारी औरत पर ही डाल कर और घरों के भयानक रूप से अलोकतान्त्रिक और हिंसागत रूप को नज़रअन्दाज़ करके जिस तरह से मीडियेशन सेंटर्स और न्यायालय औरत को घेरते हैं वह बदली हुई सोच वाले समाज का संकेत तो बिलकुल भी नहीं है।

सोच बदली ज़रूर है लेकिन बहुत थोड़ी ही। मूल रूप से आज समाज की सोच पारम्परिक ही है। इसके बहुत सारे उदहारण हमें बदलते सामाजिक परिदृश्य में शक्ति-केन्द्रित पदों पर बैठी अनेक महिलाओं के अनुभवों में मिलते हैं जिन्हें महिला होने के नाते तमाम कड़वे अनुभवों से गुज़रना पड़ा। उदाहरण अनेक हैं। यहाँ हम सिर्फ़ दो का ज़िक्र करेंगे। जब इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री थीं तो उनके बारे में यह बात आमतौर पर कही जाती थी कि वही अकेली अपने मंत्रिमंडल में पुरुष थीं। यहाँ पूर्व मान्यता यही थी कि स्त्री, स्त्री होते हुये, मज़बूत निर्णय नहीं ले सकती। उसके लिये उसे पुरुष समान होना ज़रूरी है। मायावती की सफलताएँ जब उरूज पर थीं तब एक मीडिया हाउस ने उनकी यौनिक ज़िन्दगी के बारे में एक भद्दा झूठ प्रचारित किया था। ज़्यादातर महिलाएँ इस प्रकार की शर्मनाक स्थितियों में हार मान लेंगी और भेदभाव की परम्परा बरकरार रहेगी।

अस्मिता का यह विमर्श सिर्फ एक पहलू छूता है, स्त्री और पुरुष की सर्वाधिक आधारभूत पहचान का पहलू। यह पहचान जीवन के विविध आयामों में अनेक नयी पहचानें बनाती है, नयी सीमा रेखायें खींचती है, आत्म-वंचना के नये रूप गढ़ती है। सवाल स्वास्थ्य का हो या शिक्षा, कैरियर, मिल्कियत या सपनों का हो, स्त्री और पुरुष की अस्मिताएँ हमेशा विभाजित ही रहती हैं। औचित्य के निर्णय हमेशा दोहरे मापदंडों से ही तय होते हैं। इसी तरह विभिन्न स्त्री-समूहों की अस्मिता के सवाल उपरोक्त विमर्श से ज़्यादा विस्तृत और जटिल विमर्श की अपेक्षा करते हैं, जैसे, दलित स्त्रियाँ, अल्पसंख्यक स्त्रियाँ, ग्रामीण स्त्रियाँ, आदि। ज़िन्दगी के हर फलक पर दोहरे मानकों वाली अस्मिता की यह कहानी लम्बी है और उलझी हुई है। लेकिन इसे श्रम-पूर्वक प्रमाणों और डेटा सहित कलमबद्ध किया गया है। हम इन विशेष पहलुओं की चर्चा यहाँ नहीं करेंगे। लेकिन समाप्त करने से पहले एक ऐसे विषय का उल्लेख करना चाहेंगे जिसकी गूँज हमारे देश में कुछ वर्षों से जोर पर है। यह विषय है देश और स्त्री की अस्मिताओं का सम्बन्ध।

देश के सन्दर्भ में स्त्री की हैसियत या लोकेशन समझने के लिये हम 'निजी' और 'सार्वजनिक' (private and public) के भेद का सहारा ले सकते हैं। पारम्परिक सोच स्त्री को मुख्यतः 'घरेलू' जीव मानती है जिसके न अधिकारों में और न ही ज़िम्मेदारियों में घर से बाहर की दुनिया शामिल होती है। 'घर औरत सँभाले और बाहर (समाज व देश) पुरुष सँभाले', कुछ इस तरह का इन्तज़ाम इस सोच के अनुसार स्वाभाविक और उचित है। घर को निजी, प्राइवेट क्षेत्र माना गया और शेष सभी क्षेत्र सार्वजनिक, पब्लिक माने गये। यों, वास्तविकता में तो तथाकथित 'निजी' क्षेत्र भी खालिस निजी नहीं होता। वहाँ आमतौर पर एक से अधिक व्यक्तियों का दरखल होता है, घर के लोगों के बीच ऊँचे-नीचे का, ज़्यादा और कम अधिकार योग्य होने का, निर्णय लेने के हक़ का, स्रोतों की मिल्कियत का बँटवारा होता है। जेण्डर की राजनीति और असमान्य शक्ति-संतुलन की राजनीति वहाँ भी पूरे दबाव के साथ काम करती है। इसलिए सिमों द बुवा का यह विचार सही लगता है कि तथाकथित निजी क्षेत्र राजनीति से भरपूर है और असलियत में निजी नहीं है। यहाँ शब्द 'निजी' या 'प्राइवेट' का प्रयोग हम घर के लिये और शब्द 'सार्वजनिक' का प्रयोग घर से बाहर के क्षेत्रों के लिये करेंगे।

सार्वजनिक क्षेत्र में अपने मोहल्ले, क़स्बे, शहर से लेकर देश और पूरी दुनिया शामिल है। साधारण स्थितियों में समाज की अपेक्षा यही है कि पुरुष घर के बाहर के क्षेत्रों में काम करें, उनमें दख़ल दें और वहाँ की ज़िम्मेदारियाँ निभाने के साथ वहाँ से मिली शक्ति का प्रयोग करें और स्त्रियाँ घर सँभालें, बच्चों की परवरिश करें हालाँकि घर में भी निर्णय लेने और वहाँ के स्रोतों की मालिक बनने की आज़ादी पारम्परिक सोच में शामिल नहीं है। लेकिन विशेष परिस्थितियों में, आपद धर्म की तरह, सार्वजनिक क्षेत्रों में स्त्री का प्रवेश, यद्यपि सीमित, माना गया। जेण्डर की राजनीति इस मामले में बहुत लोचदार होती है। बँटवारे की राजनीति के लिये ज़्यादा बड़े फ़ायदे के लिये कुछ नयी छूट देने की लोच इस राजनीति में निहित होती है। इस राजनीति के तहत जब देश या समाज को ज़रूरत होती है तो महिलाओं को घर के बाहर के क्षेत्रों में भागीदारी करने की छूट कभी-कभी मिल जाती है। यह छूट भी सम्पूर्ण व्यवस्था की मज़ी से ही परिसीमित होती है। चूँकि ग़ैरबराबरी की हर व्यवस्था और सोच अनिवार्य रूप से निर्मम ही होती है, जब भी पुरुष केन्द्रित व्यवस्था राज्य, देश और धर्म या जाति के नाम पर बड़ी हलचल करना चाहती है और अपने को नाकाफ़ी पाती है तो वह इस दिशा में स्त्रियों का उपयोग करती है। पन्ना धाय का उत्सर्ग, जौहर का रोमांच और राजपूताना रानियों द्वारा पतियों को युद्ध में जाने की ललकार ऐसे ही आख्यान हैं। हमारी ज़्यादा ताज़ी स्मृतियों में वे तमाम घटनाएँ हैं जिनमें कभी भ्रामक देश प्रेम के नाम पर, कभी धर्म-रक्षा के नाम पर तो कभी जातीय गौरव के नाम पर स्त्रियों को घरेलू सीमाएँ तोड़ कर बाहर निकलने को उकसाया गया, देश या धर्म के लिये किसी हितकारी काम के लिये नहीं बल्कि दुकानें लूटने के लिये, नफ़रत की आग को भड़काने और कर्मकाण्ड की पोंगापन्थी को मज़बूत करने के लिए। इधर पिछले कुछ वर्षों में धर्म के नाम पर ज़्यादा बच्चे पैदा करने या 'वीर पुत्र' (पुत्री नहीं) के आह्वान भी बहुत सुनाई दिये हैं। स्त्री-शक्ति के दुरुपयोग की ये कहानी बार-बार दोहरायी गयी है।

इस शर्मनाक स्थिति के बरक्स हमारे पास वे उदाहरण भी हैं जहाँ स्त्रियों ने अपने तमाम बन्धनों और अवसरों की अनुपलब्धता के बावजूद देश और बृहत्तर समाज के बारे में सकारात्मक और लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित सोच विकसित की और विभिन्न क्षेत्रों में न सिर्फ़ अपनी आवाज़ उठाई और योगदान दिया बल्कि अगुवाई भी की। समस्या चाहे जेण्डर की बराबरी की हो या पानी या पर्यावरण की हो या फिर आदिवासियों और लोकतन्त्र को बचाने की हो, ज़्यादातर मुद्दों पर हम स्त्रियों को



नेतृत्व देते हुये देख रहे हैं। वे सफल हो पा रही हैं या नहीं इस पर बहस हो सकती है। पर मुझे यह इतना बड़ा मुद्दा नहीं लगता जितना यह कि कुछ स्त्रियाँ संवैधानिक मूल्यों के लिये, तमाम अवरोधों के बावजूद, सतत संघर्षशील हैं। वे समझ और कर्म दोनों में परचम फहरा रही हैं। यह ज़रूर बदलते हुये समाज का एक खुशगवार संकेत है।





गोविंद बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, देश के प्रसिद्ध बुद्धिजीवियों एवं सामाजिक परिवर्तन के काम में लगे चिंतकों को आमंत्रित कर समय-समय पर उनके व्याख्यान आयोजित करता है।

‘व्याख्यान पुस्तक माला’ संस्थान में विविध व्याख्यान शृंखलाओं के अंतर्गत दिये गये ऐसे एकल व्याख्यानों का संग्रह है।

इस कड़ी में अब तक व्याख्यान शृंखला ‘भारतीय समाज के समक्ष चुनौतियाँ’ एवं ‘विकास और विमर्श’ के अंतर्गत दिये गये व्याख्यानों का प्रकाशन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तिका ‘भारतीय समाज के समक्ष चुनौतियाँ’ शृंखला के अंतर्गत दिया गया व्याख्यान है।



### **G.B. Pant Social Science Institute**

Jhusi, Prayagraj 211019

Uttar Pradesh, INDIA

Phone: 0532-2569206 (Director)

Phones: EPABX: 0532-2567516, 2569298, 2567802

Fax: 0532-2569214

E-mail: [director@gbpssi.org.in](mailto:director@gbpssi.org.in)

[www.gbpssi.in](http://www.gbpssi.in)